

फेल न किया तो क्या किया?

सी.एन. सुब्रह्मण्यम

जो हम पढ़ाना चाहते हैं, वह बच्चे के लिए रोचक न हो, या हम सही तरीके से सिखा न पाएँ, तो इसमें दोष किसका है? क्या यह विद्यार्थी का दोष है, कि उस विधा का है, या उस शिक्षक का या उस शैक्षणिक व्यवस्था का है? इनमें से हम किसे फेल मानें?

शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 के अनुसार कक्षा-8 तक छात्रों को फेल नहीं किया जा सकता है। आम तौर पर इसका यह अर्थ लगाया जाता है कि विद्यार्थियों का मूल्यांकन ही नहीं किया जा सकता।

दरअसल, शिक्षा अधिकार अधिनियम में दो अलग-अलग तरह के प्रावधान हैं जिन्हें साथ में रखकर समझना होगा - पहला प्रावधान विद्यार्थियों को किसी कक्षा में रोकने (फेल करने) पर प्रतिबन्ध लगाता है और दूसरा प्रावधान उनके सतत और समग्र मूल्यांकन को अनिवार्य बनाता है।

इन प्रावधानों के पीछे दशकों से चल रहा मन्थन और देश-विदेश के अनुभव हैं। अनुभव यह है कि बच्चों का सीखना पास-फेल रूपी बन्दूक की नोक पर नहीं होता है, न ही न सीखने के लिए उन्हें ज़िम्मेदार ठहराया जा

सकता है। बच्चों को पास-फेल करना वास्तव में व्यवस्थागत विफलताओं को बच्चे के सिर पर मढ़ना है। विश्वभर के अनुभव बताते हैं कि गरीब और वंचित समुदायों के विद्यार्थियों द्वारा शाला त्यागने के पीछे उन्हें फेल करना सबसे बड़ा कारण रहा है।

आज इस कानून के बनने के पाँच साल के अन्दर इन प्रावधानों, विशेषकर फेल न करने सम्बन्धी प्रावधान को हटाने के प्रयास युद्ध स्तर पर चल रहे हैं। आम पालक व शिक्षक भी यह मानने लगे हैं कि इस प्रावधान के कारण देश में शिक्षा का स्तर लगातार गिर रहा है। और-तो-और, कई विद्यार्थी भी यह मानने लगे हैं कि फेल न किए जाने के कारण ही वे सीख नहीं पा रहे हैं। न सीख पाने वाले बच्चों को फेल करने के पक्ष में दो तरह की दलीलें दी जाती हैं: एक छात्र-केन्द्रित और दूसरी व्यवस्था-केन्द्रित।

छात्र-केन्द्रित दलील

यह कहा जाता है कि फेल न किए जाने के कारण बच्चों में पढ़ाई के प्रति अश्रद्धा हो जाती है और वे प्रयास करना छोड़ देते हैं। दूसरा यह कि जब कोई विद्यार्थी पिछली कक्षा की बातों को न सीखकर अगली कक्षा में पहुँचता है तो उसे अगली कक्षा की विषयवस्तु समझने में कठिनाई होती है। अतः उसे उसी कक्षा में रोककर सिखाना बेहतर है।

चलिए इन दो दलीलों का परीक्षण करते हैं। क्या परीक्षा और फेल हो जाने का डर वास्तव में बच्चों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन सकता है? पढ़ाई के प्रति श्रद्धा या इच्छा विषयवस्तु की रोचकता तथा शिक्षण विधि पर निर्भर होनी चाहिए, न कि किसी दण्ड के डर पर। हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि सभी बच्चे हर विषय में समान रूप से सीखना नहीं चाहेंगे। इस कारण पाठ्यक्रम में विविधता और बहुआयामिता की ज़रूरत है। पढ़ना-लिखना, तार्किक सोच, सामाजिक समानता और न्याय, पर्यावरण बोध तथा सौन्दर्यबोध जैसे कुछ बुनियादी शैक्षणिक उद्देश्यों को हर विधा में पिरोने की ज़रूरत है ताकि जिस विधा में बालक रुचि ले, उसके माध्यम से वह ये बातें सीख सके।

जो हम पढ़ाना चाहते हैं, वह बच्चे के लिए रोचक न हो, या हम सही तरीके से सिखा न पाएँ, तो इसका

दोष किसका है? क्या यह विद्यार्थी का दोष है, कि उस विधा का है, या उस शिक्षक का या उस शैक्षणिक व्यवस्था का है? इनमें से हम किसे फेल मानें?

बच्चे तब सीखते हैं जब उनमें उस विषयवस्तु के प्रति कोई आकर्षण बने और उसे सीखने के लिए तीव्र इच्छा व उत्साह जागृत हो - जैसे वे रोटी बनाना, सायकिल चलाना या फिर नए मोबाइल फोन इस्तेमाल करना सीखते हैं। क्या इस तरह का उत्साह फेल होने के डर से उत्पन्न हो सकता है?

निःसन्देह किसी गम्भीर शैक्षणिक व्यवस्था में मूल्यांकन की अहम भूमिका होती है। हमारा प्रयास सही दिशा में अग्रसर है कि नहीं यह जानने के लिए मूल्यांकन ज़रूरी है। अगर यह लगे कि हम अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पा रहे हैं तो हमें शिक्षण के उद्देश्य या तरीकों को बदलना होगा। लेकिन मूल्यांकन करना और बच्चों को फेल करना समानार्थी नहीं हैं। मूल्यांकन करके यह समझा जा सकता है कि बच्चे कितना सीखे हैं, मगर न सीखने पर बच्चों को प्रताड़ित करना अलग बात है।

अगली दलील है कि जो बच्चे पिछली कक्षा की बात नहीं सीखे हैं वे अगली कक्षा में और पिछड़ जाएँगे। अतः उसी कक्षा में रोकने से उन्हें फायदा होगा। यहाँ मान्यता यह है कि उसी तरीके से वही विषयवस्तु

दोहराकर विद्यार्थी सीख जाएँगे। इस पहलू को लेकर कई देशों में विस्तृत अध्ययन हुए हैं। इनके नतीजों का निष्कर्ष यही है कि बच्चे जो किसी कक्षा में सीख नहीं पाते हैं, उन्हें फेल करके रोकने से भी सीखते नहीं हैं। उनकी विशिष्ट समस्या को पहचानकर विशेष शिक्षण देने से वे ज़रूरी समझ के साथ अगली कक्षा में प्रवेश कर सकेंगे।

आम तौर पर एक कक्षा में हम जो सीखते हैं उसके बहुत कम अंश अगली कक्षा के लिए अनिवार्य बुनियाद होते हैं। कई अवधारणाएँ व कुशलताएँ ऐसी होती हैं जो एकमुश्त आत्मसात नहीं होती और बार-बार लौटकर पुख्ता करनी पड़ती हैं। अतः बच्चों को किन्हीं अवधारणाओं को न सीखने के कारण फेल करके रोकना अनुचित है।

लेकिन यहाँ हमें यह ध्यान रखना होगा कि अपने आप को बेहिचक व्यक्त कर पाना, पढ़ना-लिखना व कुछ बुनियादी गणितीय कौशल कक्षा-4 से अनिवार्य हो जाते हैं और जो बच्चे इन कौशलों को हासिल नहीं कर पाते हैं वे कक्षा गतिविधियों में पिछड़ने

लगते हैं। अतः यह सुनिश्चित करना ज़रूरी है कि चौथी कक्षा तक सभी बच्चे पढ़ना-लिखना आदि सीख जाएँ।

कई शिक्षा प्रशासक यह दलील भी देते हैं कि परीक्षा होने पर ही शिक्षक अपने शैक्षणिक कार्य के प्रति गम्भीर होंगे। लेकिन ज़ाहिर है कि अगर शिक्षक खुद ही परीक्षा लेते हैं और बच्चों के फेल होने पर उनसे जवाबतलब किया जाएगा, तो शिक्षक सारे बच्चों को पास करवा देंगे। यह बाह्य बोर्ड परीक्षा का बहाना बन जाता है। आजकल कई राज्यों के प्रशासक और राजनेता यह कहते हुए देखे जा सकते हैं कि आठवीं और पाँचवीं में बोर्ड परीक्षा होनी चाहिए और बच्चों को फेल करने का प्रावधान होना चाहिए। इस नौकरशाही मानसिकता की बुनियाद में गहरा अविश्वास है: शिक्षकों के प्रति और अपने द्वारा संचालित पूरे तंत्र के प्रति। इसके लिए वही तंत्र काफी हद तक ज़िम्मेदार है क्योंकि शिक्षकों को समय-समय पर कई प्रकार के गैर-शैक्षणिक काम में उलझा कर रखा जाता है। इस कारण पूरे शिक्षा तंत्र में यह विचार व्याप्त है कि शिक्षक

आम तौर पर एक कक्षा में हम जो सीखते हैं उसके बहुत कम अंश अगली कक्षा के लिए अनिवार्य बुनियाद होते हैं। कई अवधारणाएँ व कुशलताएँ ऐसी होती हैं जो एकमुश्त आत्मसात नहीं होती और बार-बार लौटकर पुख्ता करनी पड़ती हैं। अतः बच्चों को किन्हीं अवधारणाओं को न सीखने के कारण फेल करके रोकना अनुचित है।

बच्चों को सामान्यतया तो पढ़ाएँगे नहीं, केवल विशेष परिस्थितियों में (जैसे बोर्ड परीक्षा) में पढ़ाएँगे। आम अनुभव है कि बाह्य परीक्षाओं को गम्भीरता से लिया जाता है, मगर उतनी ही गम्भीरता के साथ उनके तोड़ भी निकाले जाते हैं। ट्वेन्टी क्वेश्चन, कुंजियाँ, पास बुक, कोचिंग क्लास, प्रश्न पत्र आउट करना, नकल कराना, सामूहिक नकल, बोर्ड पर उत्तर लिखवाकर बोर्ड परीक्षा करवाना, उत्तर पुस्तिकाओं की जँचाई में हस्तक्षेप आदि इसी के विभिन्न रूप हैं।

जब तक शाला और शिक्षकों को ज़िम्मेदारी नहीं सौंपेंगे और उन पर भरोसा नहीं करेंगे तब तक बाह्य हस्तक्षेप, बोर्ड परीक्षा आदि का ढोंग ही कर सकते हैं। ज़ाहिर है कि जिस व्यवस्था में शिक्षकों के सशक्तिकरण, उचित शिक्षक प्रशिक्षण आदि में पर्याप्त निवेश नहीं होगा उसमें शिक्षकों पर भरोसा करना या उन पर ज़िम्मेदारी छोड़ना भी सम्भव नहीं होगा। बोर्ड परीक्षा तो पूरी व्यवस्था को विकृत कर देती है। जहाँ भी बोर्ड परीक्षा की व्यवस्था है वहाँ के लोग यह बखूबी जानते हैं कि बोर्ड क्लास में ही पढ़ाई करवायी जाती है और अन्य कक्षाओं में लापरवाही बरती जाती है। बोर्ड कक्षाओं में भी पढ़ाई मात्र परीक्षा की तैयारी के लिए होती है, न कि विषयवस्तु की समझ या उपयोग पर केन्द्रित। इस पूरे प्रकरण में बच्चों पर जो असर होता है वह एक राष्ट्रीय

आपदा से कम नहीं है।

फेल न करने के पक्ष में

पहली बात तो यह है कि किसी बच्चे के सीखने या न सीखने में उसके प्रयास से कहीं अधिक ज़िम्मेदारी शिक्षक और शैक्षिक व्यवस्था की है, क्योंकि पाठ्यक्रम निर्धारण वे ही करते हैं। ऐसे में न सीखने का पूरा दोष बच्चे पर मढ़कर बाकी सब बरी हो जाते हैं। जब हम किसी बच्चे को फेल करते हैं तो इसे उसकी विफलता के लिए मिले दण्ड के रूप में देखा जाता है। अगर वे किन्हीं कारणों से निर्धारित शैक्षणिक उपलब्धि हासिल नहीं करते तो उन्हें दण्डित करना सर्वथा अन्याय-पूर्ण है।

यह दलील दी जा सकती है कि स्कूल में फेल करना दण्ड नहीं, सीखने का एक और मौका है। लेकिन हम सब जानते हैं कि सच्चाई क्या है। फेल होने के कई निहितार्थ हैं - बच्चे को नाकामयाब और निकम्मा माना जाता है, उसे अपने हमउम्र साथियों से अलग करके कम उम्र के बच्चों के साथ पढ़ने के लिए विवश किया जाता है। कक्षा में उसे लगातार दूसरे बच्चों व शिक्षकों एवं रिश्तेदारों के तानों का सामना करना पड़ता है, जो हीन भावना पैदा करता है। और-तो-और, उसे शिक्षा में एक अतिरिक्त वर्ष बिताना पड़ता है। माथे पर फेल होने का कलंक और एक साल खोने पर हम यह अपेक्षा कैसे करें कि वे श्रद्धा और उत्साह के साथ सीखेंगे। ऐसे ज़्यादातर बच्चे

अन्त में शाला ही त्याग देते हैं। पाँचवीं और आठवीं में ज़्यादातर बच्चों के शाला त्यागने के पीछे यह एक बहुत बड़ा कारण रहा है।

बच्चे तब सीखते हैं जब उनमें उत्साह और आत्मविश्वास होता है। सीखना दरअसल हर बच्चे के ज़हन में ज्ञान के निर्माण से होता है जो ज़ोर-जबरदस्ती से नहीं, स्वेच्छा और विश्वास से सम्भव होता है। जब हम बच्चों को फेल करते हैं तो उनका यह उत्साह और मनोबल टूटता है और बच्चे यह मानने लगते हैं कि वे सीख ही नहीं सकते।

फेल करने का एक सामाजिक पक्ष भी होता है। क्या हर सामाजिक वर्ग के बच्चे एक-से अनुपात में फेल होते हैं? फेल होने वाले बच्चे आम तौर पर अपेक्षाकृत कमज़ोर सामाजिक वर्ग के ही होते हैं। अगर हम अपने ही समाज में यह जाँचें कि कौन-से बच्चे किसी कक्षा के सीखने के स्तर पर नहीं पहुँच पाए हैं तो हम पाएँगे कि वे अधिकतर दलित, आदिवासी, गरीब होंगे या फिर भिन्न-सक्षम होंगे। हमारी पाठ्यचर्या यह मानकर बनाई जाती है कि सभी

बच्चों को वह सांस्कृतिक पूंजी उपलब्ध है जो मध्य वर्ग के बच्चों के पास है। लेकिन ऐसा नहीं है। हमारे देश में सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले अधिकांश बच्चे बिलकुल गरीब तबके के हैं, सुदूर अंचल के हैं और निरक्षर परिवारों से हैं - उन्हें कितनी शिद्दत से हमारे स्कूलों में पढ़ाया जाता है, यह किसी से छिपा नहीं है। लेकिन उन्हें फेल करने को सब आतुर हैं। ऐसा क्यों?

हमारे संवैधानिक ढाँचे में सबको समान अवसर दिलाना एक बुनियादी वादा है। समान अवसर का मतलब है कि किसी भी सामाजिक पृष्ठभूमि में जन्मा व्यक्ति, चाहे वह महिला हो या पुरुष या ट्रांस-जेंडर या भिन्न-सक्षम हो, उसे समाज में किसी भी पद या हैसियत पाने की अर्हता होगी। लेकिन ये पद आदि प्राप्त करने के लिए कुछ शैक्षणिक उपाधियों व उपलब्धियों की ज़रूरत होती है। जब गरीब व वंचित तबके के बच्चों को फेल किया जाता है तो उनके लिए ये दरवाज़े बन्द हो जाते हैं। फेल-पास व्यवस्था की एक खूबी यह है कि समाज इसकी ज़िम्मेदारी से अपने आपको बचा लेता है - जो

सतत मूल्यांकन शिक्षकों के लिए है, ताकि वे अपने शैक्षणिक प्रयासों के प्रभाव को देख सकें और ज़रूरत पड़ने पर उपचारात्मक कदम उठाएँ। इसका उपयोग शिक्षक की स्वतंत्रता को बढ़ाने के लिए है, उसे नष्ट करने के लिए नहीं। इसी तरह इसका उपयोग बच्चों के न सीखने पर उसे प्रताड़ित करने के लिए नहीं, बल्कि वे जो सीख पाते हैं उसे सराहने के लिए है।

बच्चे फेल घोषित किए जाते हैं, यह दोष उन्हीं के सर पर मढ़ा जाता है।

अगर विद्यार्थियों को पास-फेल नहीं करना है तो मूल्यांकन की क्या भूमिका होगी? शिक्षा अधिकार अधिनियम में सतत और समग्र मूल्यांकन की बात की गई है। सतत मूल्यांकन का तात्पर्य यह नहीं है कि बच्चों को आए दिन टेस्ट दिए जाएँ। इसका वास्तविक आशय है कक्षा में बच्चों की भागीदारी और प्रगति पर सतत नज़र रखना। अगर उन्हें सीखने में कठिनाई हो रही हो तो उसे पहचानना और समय रहते उसका निराकरण खोजना। सतत मूल्यांकन शिक्षकों के लिए है, ताकि वे अपने शैक्षणिक प्रयासों के प्रभाव को देख सकें और ज़रूरत पड़ने पर उपचारात्मक कदम उठाएँ। इसका उपयोग शिक्षक की स्वतंत्रता को बढ़ाने के लिए है, उसे नष्ट करने के लिए नहीं। इसी तरह इसका उपयोग बच्चों के न सीखने पर उसे प्रताड़ित करने के लिए नहीं, बल्कि वे जो सीख पाते हैं उसे सराहने के लिए है।

बच्चों को साल के अन्त में एक-मुश्त जाँचकर उन्हें पास-फेल करने की जगह लगातार उनके सीखने पर

नज़र रखकर उनकी मदद करना इसका उद्देश्य है। यह शिक्षक द्वारा किया जाना है जो हरेक बच्चे और उसकी निजी परिस्थिति को समझता है और यह समझ पाता है कि अगर बच्चे ने कोई नया प्रयास किया तो वह किन कठिनाइयों के बीच।

सतत आकलन समग्र ही हो सकता है, वह संकीर्ण नहीं हो सकता क्योंकि शिक्षा केवल चन्द्र अक्षरों को लिखने की क्षमता हासिल करना नहीं है। समग्र से तात्पर्य है कि यह कुछ सीमित शैक्षणिक उद्देश्यों का नहीं बल्कि बच्चों के हर तरह के प्रयासों का आकलन है - बच्चे कक्षा में कैसे बैठते हैं, कब, कैसे और कितना बोलते हैं, कितने लोगों से दोस्ती करते हैं, खेलते कैसे हैं से लेकर वे पढ़ने-लिखने, या जोड़ने-घटाने या चित्र बनाने में, कविता या गीत गाने में, अभिनय में, प्रयोग करने में क्या करते हैं। यह सब तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम हर शाला में पर्याप्त शिक्षकों की व्यवस्था न करें और शिक्षकों को सम्मानजनक वेतन और सेवाशर्तें उपलब्ध न कराएँ। परीक्षा और पास-फेल शिक्षकों के सशक्तिकरण का विकल्प कतई नहीं बन सकते हैं।

सी.एन. सुब्रह्मण्यम: एकलव्य के सामाजिक विज्ञान कार्यक्रम से जुड़े हैं। विभिन्न राज्यों में विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के लिए पाठ्यक्रम व पाठ्यसामग्री निर्माण कार्य में सघन योगदान। यह लेख *स्रोत फीचर्स* के अंक फरवरी, 2016 से साभार।

